शब्दसागर
अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक सहकर्मी-समीक्षित, रेफर्ड, ओपन एक्सेस शोध पत्रिका
ISSN: 2584-2889
वर्ष 2, अंक 2, जनवरी - मार्च 2025
Online Available: https://shabdasagar.in/

मीमांसा दर्शन में धर्म और वेद-प्रामाण्य का सिद्धांत

वीना रानी, सहायक प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, गुरु गोरखनाथ जी राजकीय महाविद्यालय, हिसार, हरियाणा

सार (Abstract)

भारतीय दर्शन-परम्परा में मीमांसा दर्शन का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह दर्शन मुख्यतः वैदिक कर्मकाण्ड की व्याख्या, धर्म के स्वरूप-निर्धारण तथा वेद की प्रामाणिकता की दार्शनिक प्रतिष्ठा से सम्बद्ध है। प्रस्तुत शोध-पत्र में मीमांसा दर्शन के दो केन्द्रीय सिद्धान्तों—धर्म-मीमांसा एवं वेद-प्रामाण्य—का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। जैमिनि के मीमांसासूत्र से प्रारम्भ होकर शबरस्वामी के भाष्य, तथा कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र की व्याख्याओं तक की परम्परा का अनुशीलन करते हुए यह दिखाया गया है कि मीमांसकों ने धर्म को "चोदनालक्षण" अर्थात् वैदिक विधि-वाक्यों द्वारा प्रेरित कर्तव्य के रूप में परिभाषित किया। साथ ही वेद को अपौरुषेय (अकर्तृक) मानकर उसकी नित्यता तथा स्वतःप्रामाण्य (स्वतः प्रामाण्यवाद) की स्थापना की गयी। यह शोध-पत्र शब्द-प्रमाण की प्रामाणिकता, अपौरुषेयतावाद के तार्किक आधार, कुमारिल एवं प्रभाकर सम्प्रदायों के भेद, तथा न्याय-वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शन से मीमांसा के वेद-प्रामाण्य-सिद्धान्त की तुलना करते हुए इसकी दार्शनिक सुदृढ़ता और सीमाओं का समालोचनात्मक मूल्यांकन करता है। निष्कर्षतः यह स्पष्ट होता है कि मीमांसा दर्शन का धर्म-सिद्धान्त और वेद-प्रामाण्यवाद केवल धार्मिक आस्था का विषय न होकर एक सुसंगत ज्ञानमीमांसीय (epistemological) संरचना पर आधारित है, जिसने भारतीय दर्शन को प्रमाण-सिद्धान्त की दृष्टि से समृद्ध किया।

कीवर्ड्स (Keywords): मीमांसा दर्शन, धर्म, वेद-प्रामाण्य, अपौरुषेयवाद, चोदनालक्षण, शब्द-प्रमाण, स्वतःप्रामाण्यवाद, जैमिनि, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र

१. प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय दार्शनिक चिन्तन की छह आस्तिक परम्पराओं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त—में मीमांसा दर्शन का स्वरूप अन्य दर्शनों से भिन्न है। जहाँ अन्य दर्शन मुख्यतः तत्त्वज्ञान, मोक्ष-मार्ग अथवा सृष्टि-प्रक्रिया के विवेचन में प्रवृत्त हैं, वहीं मीमांसा दर्शन का केन्द्रीय प्रयोजन वेद के कर्मकाण्डीय भाग की व्याख्या तथा उससे उद्भूत धर्म के स्वरूप का निर्धारण करना है। मीमांसा शब्द की व्युत्पत्ति "मान्" धातु से हुई है, जिसका अर्थ है पूजा अथवा विचार करना; इस प्रकार मीमांसा का शाब्दिक अर्थ है गम्भीर विचार अथवा तर्कपूर्ण अन्वेषण।

प्राचीन भारतीय समाज में यज्ञ-याग तथा कर्मकाण्ड का अत्यधिक महत्त्व था, किन्तु समय के साथ वैदिक वाक्यों के अर्थ को लेकर अनेक विसंगतियाँ तथा शंकाएँ उत्पन्न होने लगीं। इन्हीं शंकाओं के समाधान हेतु महर्षि जैमिनि ने मीमांसासूत्र की रचना की, जिसे पूर्वमीमांसा अथवा केवल मीमांसा के नाम से जाना जाता है (इसके विपरीत उत्तरमीमांसा को वेदान्त कहा जाता है)। जैमिनि के अनुसार मीमांसाशास्त्र का प्रयोजन धर्म का ज्ञान प्राप्त करना है, और इसी कारण उन्होंने अपने सूत्रग्रन्थ का आरम्भ ही धर्म की जिज्ञासा से किया।

धर्म और वेद-प्रामाण्य—ये दोनों सिद्धान्त परस्पर इतने गुम्फित हैं कि एक को दूसरे से पृथक् करके समझना कठिन है। मीमांसकों के अनुसार धर्म का ज्ञान केवल वेद से ही सम्भव है, क्योंकि धर्म अतीन्द्रिय (इन्द्रियातीत) विषय है, जिसे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि लौकिक

शब्दसागर
अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक सहकर्मी-समीक्षित, रेफर्ड, ओपन एक्सेस शोध पत्रिका
ISSN: 2584-2889
वर्ष 2, अंक 2, जनवरी - मार्च 2025
Online Available: https://shabdasagar.in/

प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता। अतः वेद की प्रामाणिकता सिद्ध करना मीमांसा दर्शन के लिए अनिवार्य कर्तव्य बन जाता है। इसी आवश्यकता से मीमांसकों ने अपौरुषेयतावाद, स्वतःप्रामाण्यवाद तथा शब्द-प्रमाण की स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठा जैसे अत्यन्त परिष्कृत दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

प्रस्तुत शोध-पत्र में हम इन्हीं सिद्धान्तों का क्रमबद्ध एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। सर्वप्रथम मीमांसा दर्शन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं साहित्यिक परम्परा का अवलोकन किया जाएगा, तत्पश्चात् धर्म के लक्षण, वेद-प्रामाण्य के सैद्धान्तिक आधार, अपौरुषेयतावाद, कुमारिल-प्रभाकर सम्प्रदाय-भेद, तथा अन्य दर्शनों से तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हुए अन्ततः निष्कर्ष प्रस्तुत किया जाएगा।

२. मीमांसा दर्शन का ऐतिहासिक एवं साहित्यिक परिप्रेक्ष्य

२.१ जैमिनि और मीमांसासूत्र

मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि माने जाते हैं, जिनका काल विद्वानों ने ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के लगभग निर्धारित किया है, यद्यपि इस विषय में मतैक्य नहीं है। जैमिनि द्वारा रचित मीमांसासूत्र बारह अध्यायों में विभक्त है और इसमें लगभग २५०० सूत्र संकलित हैं। इस ग्रन्थ का प्रथम सूत्र ही सम्पूर्ण दर्शन की दिशा निर्धारित करता है—"अथातो धर्मजिज्ञासा" अर्थात् अब इसके पश्चात् धर्म की जिज्ञासा (प्रारम्भ की जाती है) (जैमिनि, मीमांसासूत्र, १.१.१)। इस एक सूत्र में ही मीमांसा दर्शन का सम्पूर्ण प्रयोजन निहित है।

द्वितीय सूत्र में जैमिनि धर्म का लक्षण प्रस्तुत करते हैं—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" अर्थात् चोदना (वैदिक विधि-वाक्य) जिसका लक्षण है, ऐसा अर्थ (प्रयोजनसाधक वस्तु) धर्म है (जैमिनि, मीमांसासूत्र, १.१.२)। इस परिभाषा पर विस्तृत विवेचन आगे के अनुभाग में किया जाएगा।

२.२ शबरस्वामी और शाबरभाष्य

जैमिनि के सूत्रों की क्लिष्टता के कारण उनकी व्याख्या हेतु अनेक भाष्यकार हुए, किन्तु इनमें शबरस्वामी का भाष्य सर्वाधिक प्रामाणिक तथा प्राचीन माना जाता है। शबरस्वामी का काल सामान्यतः ईस्वी प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी माना जाता है। शाबरभाष्य मीमांसासूत्रों की सर्वप्रथम उपलब्ध सम्पूर्ण व्याख्या है, और परवर्ती समस्त मीमांसा-साहित्य—चाहे वह भाट्ट सम्प्रदाय का हो अथवा प्राभाकर सम्प्रदाय का—शाबरभाष्य को ही आधार बनाकर विकसित हुआ। शबरस्वामी ने अपने भाष्य में वेद की प्रामाणिकता, अपौरुषेयत्व तथा शब्द के नित्यत्व जैसे विषयों पर विस्तृत विचार प्रस्तुत किया, जिसे "तर्कपाद" के नाम से भी जाना जाता है।

२.३ कुमारिल भट्ट और भाट्ट सम्प्रदाय

लगभग सातवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने शाबरभाष्य पर तीन प्रमुख टीकाएँ रचीं—श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक तथा टुप्टीका। कुमारिल भट्ट ने बौद्ध दर्शन के विरुद्ध वेद-प्रामाण्य की सुदृढ़ स्थापना की, तथा उनके अनुयायियों का सम्प्रदाय "भाट्ट सम्प्रदाय" कहलाया। कुमारिल का दर्शन विशेष रूप से ज्ञान की स्वतःप्रामाण्यता (स्वतःप्रामाण्यवाद) के सिद्धान्त हेतु प्रसिद्ध है।

२.४ प्रभाकर मिश्र और प्राभाकर सम्प्रदाय

शब्दसागर
अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक सहकर्मी-समीक्षित, रेफर्ड, ओपन एक्सेस शोध पत्रिका
ISSN: 2584-2889
वर्ष 2, अंक 2, जनवरी - मार्च 2025
Online Available: https://shabdasagar.in/

कुमारिल के समकालीन अथवा कुछ परवर्ती माने जाने वाले प्रभाकर मिश्र ने शाबरभाष्य पर "बृहती" नामक टीका लिखी, जिस पर शालिकनाथ मिश्र ने "ऋजुविमला" नामक उपटीका रची। प्रभाकर के अनुयायियों को "प्राभाकर" अथवा "गुरुमत" कहा जाता है (प्रभाकर को "गुरु" की उपाधि प्राप्त थी)। प्राभाकर सम्प्रदाय अनेक विषयों में भाट्ट सम्प्रदाय से भिन्न मत रखता है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

२.५ परवर्ती मीमांसा-साहित्य

इसके पश्चात् पार्थसारथि मिश्र (शास्त्रदीपिका, न्यायरत्नाकर), माधवाचार्य (जैमिनीयन्यायमालाविस्तर), आपदेव (मीमांसान्यायप्रकाश), खण्डदेव, तथा लौगाक्षि भास्कर (अर्थसंग्रह) जैसे अनेक विद्वानों ने मीमांसा दर्शन को समृद्ध किया। आधुनिक काल में गंगानाथ झा, बलदेव उपाध्याय, तथा पी.वी. काणे जैसे विद्वानों ने मीमांसा दर्शन के अंग्रेजी एवं हिन्दी में विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किए, जिन्होंने इस परम्परा को आधुनिक शोध-जगत में प्रतिष्ठित किया (उपाध्याय, १९९४; झा, १९४२)।

३. धर्म का स्वरूप मीमांसा दर्शन में

३.१ धर्म की परिभाषा : चोदनालक्षणवाद

जैसा कि पूर्व अनुभाग में उल्लिखित है, जैमिनि धर्म को परिभाषित करते हुए कहते हैं—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जैमिनि, मीमांसासूत्र, १.१.२)। इस सूत्र के दो प्रमुख पद हैं—"चोदना" और "अर्थ"। "चोदना" का अर्थ है वैदिक विधि-वाक्य, अर्थात् वह वाक्य जो किसी कर्म को करने की प्रेरणा देता है, जैसे "स्वर्गकामो यजेत" (स्वर्ग की कामना करने वाला यज्ञ करे)। "अर्थ" का तात्पर्य है प्रयोजनसाधक वस्तु अथवा इष्ट-साधन।

शबरस्वामी अपने भाष्य में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए स्पष्ट करते हैं कि धर्म वही है जो चोदना अर्थात् वैदिक विधि-वाक्य द्वारा जाना जाता है, और जो इष्ट (अभीष्ट फल) का साधन हो। इस प्रकार धर्म की तीन प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

१. धर्म का ज्ञान केवल वेद-वाक्यों से ही सम्भव है (अन्य किसी प्रमाण से नहीं)।
२. धर्म प्रयोजनसाधक अर्थात् फलदायक होता है।
३. धर्म कर्मस्वरूप है, अर्थात् यह कोई स्थिर वस्तु नहीं अपितु करणीय क्रिया है।

३.२ धर्म अतीन्द्रिय क्यों है

मीमांसकों का मत है कि धर्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म का सम्बन्ध भविष्य में प्राप्त होने वाले अदृष्ट फल (जैसे स्वर्ग) से है, जो वर्तमान में इन्द्रियगोचर नहीं है। इसी प्रकार अनुमान, उपमान आदि प्रमाण भी धर्म के ज्ञान में असमर्थ हैं, क्योंकि अनुमान के लिए व्याप्ति-ज्ञान आवश्यक है, जो प्रत्यक्ष अथवा पूर्व अनुभव पर आधारित होता है—किन्तु धर्म-कर्म-फल-सम्बन्ध का ऐसा कोई प्रत्यक्षानुभव सम्भव नहीं। अतः शबरस्वामी के अनुसार धर्म का एकमात्र प्रमाण शब्द (वेद-वाक्य) ही है (शबरस्वामी, शाबरभाष्य, १.१.२ पर)।

३.३ अपूर्व सिद्धान्त

शब्दसागर
अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक सहकर्मी-समीक्षित, रेफर्ड, ओपन एक्सेस शोध पत्रिका
ISSN: 2584-2889
वर्ष 2, अंक 2, जनवरी - मार्च 2025
Online Available: https://shabdasagar.in/

धर्म और फल के मध्य कार्य-कारण सम्बन्ध को स्पष्ट करने हेतु मीमांसकों ने "अपूर्व" नामक एक विशिष्ट सिद्धान्त प्रतिपादित किया। मीमांसकों के अनुसार जब कोई यजमान यज्ञ करता है, तो यज्ञ-क्रिया के समाप्त होते ही उसका प्रत्यक्ष फल तत्काल प्राप्त नहीं होता (जैसे स्वर्ग-प्राप्ति भविष्य में होती है)। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि यज्ञ-क्रिया और भविष्य में प्राप्त होने वाले फल के मध्य सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित हो। इसके समाधानार्थ मीमांसकों ने माना कि यज्ञ-क्रिया से एक अदृष्ट शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे "अपूर्व" कहा जाता है, और यही अपूर्व भविष्य में फल-प्राप्ति का कारण बनता है (पार्थसारथि मिश्र, शास्त्रदीपिका)। अपूर्व की अवधारणा मीमांसा दर्शन की अत्यन्त मौलिक देन मानी जाती है, जो कर्म और फल के मध्य की कड़ी को तार्किक रूप से जोड़ती है।

३.४ धर्म के भेद : विधि, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय

मीमांसकों ने वैदिक वाक्यों को उनके प्रयोजन के अनुसार विभिन्न वर्गों में विभाजित किया है—

विधि — वे वाक्य जो किसी कर्म को करने का आदेश देते हैं। विधि को पुनः उत्पत्ति-विधि, विनियोग-विधि, अधिकार-विधि तथा प्रयोग-विधि में विभाजित किया गया है।

अर्थवाद — वे वाक्य जो विधि-वाक्य की प्रशंसा अथवा निन्दा करके उसे प्रेरित करने का कार्य करते हैं, जैसे स्तुति अथवा निन्दा वाक्य।

मन्त्र — वे वाक्य जो यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों तथा देवताओं का स्मरण कराते हैं।

नामधेय — यज्ञों के विशिष्ट नाम, जो उनकी पहचान हेतु प्रयुक्त होते हैं, जैसे "अग्निहोत्र", "ज्योतिष्टोम" आदि।

इन वर्गीकरणों के माध्यम से मीमांसकों ने सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को व्यवस्थित रूप से समझने का प्रयास किया, जिससे कर्मकाण्ड का सुसंगत निर्वचन सम्भव हो सका (जैमिनि, मीमांसासूत्र, द्वितीय अध्याय)।

३.५ निषेध-वाक्य और धर्म

मीमांसकों ने केवल विधेयात्मक वाक्यों को ही नहीं, अपितु निषेधात्मक वाक्यों (जैसे "न कलञ्जं भक्षयेत्" - कलञ्ज नामक वस्तु न खाए) को भी धर्म के अन्तर्गत माना है। निषेध का पालन भी अधर्म से बचाव के रूप में धर्माचरण ही माना जाता है। इस प्रकार मीमांसा में धर्म का क्षेत्र केवल विधेयात्मक कर्तव्यों तक सीमित नहीं, अपितु निषेधों के पालन तक विस्तृत है।

३.६ धर्म और नैतिकता का सम्बन्ध

यह ध्यातव्य है कि मीमांसा-दर्शन में धर्म की अवधारणा आधुनिक अर्थ में "नैतिकता" (Ethics) से पूर्णतया समरूप नहीं है, यद्यपि इसमें साम्य अवश्य है। मीमांसकों के लिए धर्म का मूल आधार वैदिक आज्ञा है, न कि केवल लोक-कल्याण अथवा तर्कसंगत नैतिक सिद्धान्त। इस दृष्टि से मीमांसा का धर्म-सिद्धान्त एक प्रकार का "दैवी आज्ञा सिद्धान्त" (Divine Command-सदृश, यद्यपि वेद को किसी व्यक्तित्व-ईश्वर की आज्ञा नहीं माना गया) प्रतीत होता है, जिसकी विस्तृत चर्चा हम अपौरुषेयतावाद के अनुभाग में करेंगे।

शब्दसागर
अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक सहकर्मी-समीक्षित, रेफर्ड, ओपन एक्सेस शोध पत्रिका
ISSN: 2584-2889
वर्ष 2, अंक 2, जनवरी - मार्च 2025
Online Available: https://shabdasagar.in/

४. वेद-प्रामाण्य का सिद्धान्त

४.१ प्रामाण्य की अवधारणा

मीमांसा दर्शन में "प्रामाण्य" शब्द का अर्थ है किसी ज्ञान की यथार्थता अथवा सत्यता। किसी वाक्य अथवा ज्ञान को "प्रमाण" तभी कहा जा सकता है जब वह अबाधित (बाधारहित) तथा यथार्थ अर्थ का बोधक हो। मीमांसकों ने ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों के निर्धारण की प्रक्रिया पर गहन विचार किया, जिसे "प्रामाण्यवाद" कहा जाता है।

४.२ छह प्रमाण

मीमांसा दर्शन में सामान्यतः छह प्रमाण स्वीकार किए गए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि (यद्यपि प्रभाकर सम्प्रदाय अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानता, केवल पाँच प्रमाण स्वीकार करता है)। इन प्रमाणों में "शब्द-प्रमाण" वेद-प्रामाण्य की स्थापना हेतु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

४.३ शब्द-प्रमाण का स्वरूप

शब्द-प्रमाण से तात्पर्य है आप्त (विश्वसनीय) पुरुष के वचन से उत्पन्न ज्ञान। किन्तु वेद के सन्दर्भ में मीमांसक एक विशिष्ट स्थिति अपनाते हैं—वे वेद को किसी आप्त पुरुष का वचन नहीं मानते, अपितु उसे अपौरुषेय (अर्थात् किसी पुरुष द्वारा अरचित) मानते हैं। यह सिद्धान्त मीमांसा दर्शन की अत्यन्त विशिष्ट तथा विवादास्पद देन है, जिसकी विस्तृत चर्चा अगले उपशीर्षक में की जाएगी।

४.४ अपौरुषेयतावाद

मीमांसकों के अनुसार वेद न तो किसी मनुष्य द्वारा रचित है और न ही किसी ईश्वर द्वारा। वेद अनादि तथा नित्य है। इस मत के पक्ष में मीमांसक अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं—

प्रथम तर्क : वेद के कर्ता का स्मरण न होना। मीमांसकों का कहना है कि यदि वेद किसी व्यक्ति द्वारा रचा गया होता, तो परम्परा में उसके कर्ता का नाम अवश्य स्मरण रहता, जैसे रामायण के कर्ता वाल्मीकि अथवा महाभारत के कर्ता व्यास का स्मरण है। किन्तु वेद के विषय में ऐसा कोई स्मरण उपलब्ध नहीं है, अतः वेद अपौरुषेय है (कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्तिक, वाक्याधिकरण)।

द्वितीय तर्क : शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं (इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक शब्द को अनित्य अर्थात् उत्पत्तिशील मानते हैं)। यदि शब्द नित्य है, तो शब्द से निर्मित वेद भी नित्य होगा, क्योंकि वेद शब्दों की एक निश्चित क्रम-व्यवस्था मात्र है।

तृतीय तर्क : परम्परा की अनादिता। मीमांसकों के अनुसार अध्ययन-अध्यापन की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है, अर्थात् प्रत्येक अध्यापक ने अपने गुरु से वेद का अध्ययन किया, और उस गुरु ने अपने गुरु से—इस प्रकार यह शृंखला अनन्त है, जिसमें किसी आदि रचयिता की कल्पना आवश्यक नहीं (शबरस्वामी, शाबरभाष्य, १.१.५ के प्रसंग में)।

४.५ स्वतःप्रामाण्यवाद

शब्दसागर
अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक सहकर्मी-समीक्षित, रेफर्ड, ओपन एक्सेस शोध पत्रिका
ISSN: 2584-2889
वर्ष 2, अंक 2, जनवरी - मार्च 2025
Online Available: https://shabdasagar.in/

मीमांसा दर्शन का एक अन्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है स्वतःप्रामाण्यवाद, जिसका सर्वप्रथम विस्तृत प्रतिपादन कुमारिल भट्ट ने किया। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य (सत्यता) उस ज्ञान से ही स्वतः उत्पन्न होता है, न कि किसी बाह्य साधन से। अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही उसका प्रामाण्य भी स्वाभाविक रूप से गृहीत हो जाता है; प्रामाण्य के लिए किसी अतिरिक्त परीक्षण की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत, अप्रामाण्य अर्थात् किसी ज्ञान का मिथ्यात्व, परतः अर्थात् बाह्य कारणों (जैसे बाधक ज्ञान अथवा दोषयुक्त करण) से ज्ञात होता है।

इस सिद्धान्त को "स्वतः प्रामाण्यं परतोऽप्रामाण्यम्" के सूत्र-वाक्य में संक्षेपित किया जाता है, जो परवर्ती मीमांसा-साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ (पार्थसारथि मिश्र, शास्त्रदीपिका)। इस सिद्धान्त का प्रयोग वेद-प्रामाण्य की स्थापना में इस प्रकार होता है—चूँकि वेद से उत्पन्न ज्ञान भी अन्य ज्ञानों की भाँति स्वतः प्रमाण है, और वेद में किसी दोषयुक्त कर्ता का अभाव है (क्योंकि वेद अपौरुषेय है, अतः उसमें पुरुष-दोष अर्थात् भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (छलने की इच्छा) अथवा करणापाटव की सम्भावना ही नहीं), इसलिए वेद का ज्ञान बाधित होने का कोई कारण नहीं रहता और वह स्वतः प्रामाणिक सिद्ध होता है।

४.६ न्याय-वैशेषिक का प्रतिवाद : वेद ईश्वर-प्रणीत

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सभी आस्तिक दर्शन वेद-प्रामाण्य को स्वीकार करते हुए भी इसकी स्थापना के भिन्न-भिन्न मार्ग अपनाते हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन वेद को अपौरुषेय न मानकर ईश्वर-प्रणीत (ईश्वर द्वारा रचित) मानते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार वेद की प्रामाणिकता इसलिए सिद्ध होती है क्योंकि इसका कर्ता ईश्वर सर्वज्ञ तथा दोषरहित है, अतः उसके वचन में असत्यता की सम्भावना नहीं। इस प्रकार न्याय दर्शन "आप्तप्रामाण्यवाद" का सहारा लेता है, जबकि मीमांसा दर्शन "अपौरुषेयतावाद" के माध्यम से एक भिन्न मार्ग अपनाता है, जिसमें किसी कर्ता की आवश्यकता ही नहीं रह जाती और इसीलिए पुरुष-दोष की सम्भावना का मूल में ही निषेध हो जाता है (उपाध्याय, १९९४)।

४.७ बौद्ध दर्शन का विरोध और मीमांसकों का प्रत्युत्तर

बौद्ध दार्शनिकों ने वेद-प्रामाण्य पर तीव्र आक्रमण किया। बौद्ध मत के अनुसार कोई भी शब्द-समूह अपौरुषेय नहीं हो सकता, क्योंकि भाषा मूलतः मानव-निर्मित सांकेतिक व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति तथा अन्य नैयायिक-विरोधी विचारकों ने तर्क दिया कि प्रामाण्य का आधार बुद्ध जैसे आप्त पुरुष का प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिए, न कि किसी अनादि अनाम ग्रन्थ की मान्यता।

कुमारिल भट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में इन आक्षेपों का विस्तृत खण्डन प्रस्तुत किया। उन्होंने तर्क दिया कि बौद्ध ग्रन्थों का कर्तृत्व बुद्ध में होने के कारण उनमें पुरुष-दोष की सम्भावना बनी रहती है, जबकि वेद में कर्तृत्व के अभाव के कारण ऐसी कोई सम्भावना नहीं। कुमारिल ने यह भी तर्क दिया कि बौद्ध लोग स्वयं भी अनेक अवधारणाओं (जैसे क्षणभंगुरवाद) को बिना प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वीकार करते हैं, अतः उनका वेद-विरोध असंगत है।

४.८ वेद के अंश और उनकी प्रामाणिकता

मीमांसकों ने वेद के विभिन्न भागों—संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक/उपनिषद्—को समान रूप से प्रामाणिक माना है। यद्यपि मीमांसा दर्शन की मुख्य रुचि कर्मकाण्डीय भाग (संहिता तथा ब्राह्मण) में है, तथापि सैद्धान्तिक दृष्टि से समस्त वेद अपौरुषेय तथा नित्य माना गया है। उपनिषदों की ज्ञानकाण्डीय व्याख्या का कार्य उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त दर्शन द्वारा किया जाता है, किन्तु प्रामाण्य के मूल सिद्धान्त में दोनों मीमांसाएँ एकमत हैं।

शब्दसागर
अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक सहकर्मी-समीक्षित, रेफर्ड, ओपन एक्सेस शोध पत्रिका
ISSN: 2584-2889
वर्ष 2, अंक 2, जनवरी - मार्च 2025
Online Available: https://shabdasagar.in/

५. कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र : भाट्ट एवं प्राभाकर सम्प्रदायों में भेद

यद्यपि कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर मिश्र दोनों मीमांसा दर्शन के ही अनुयायी हैं और दोनों वेद-प्रामाण्य तथा धर्म के मूल सिद्धान्तों पर सहमत हैं, तथापि अनेक सूक्ष्म विषयों पर उनके मध्य गम्भीर मतभेद हैं, जिनका संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

५.१ प्रमाणों की संख्या पर मतभेद

कुमारिल भट्ट (भाट्ट सम्प्रदाय) छह प्रमाण स्वीकार करते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। इसके विपरीत प्रभाकर मिश्र (प्राभाकर सम्प्रदाय) केवल पाँच प्रमाण मानते हैं, अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अस्वीकार करते हुए इसे अनुमान अथवा प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही समाहित मानते हैं।

५.२ ख्यातिवाद में भेद

भ्रम अथवा भ्रान्ति की व्याख्या के विषय में भी दोनों सम्प्रदायों में मतभेद है। कुमारिल भट्ट "विपरीतख्यातिवाद" के समर्थक हैं, जिसके अनुसार भ्रम की स्थिति में एक वस्तु को दूसरी वस्तु के रूप में ग्रहण किया जाता है (जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम)। इसके विपरीत प्रभाकर मिश्र "अख्यातिवाद" के प्रवर्तक माने जाते हैं, जिसके अनुसार भ्रम में वास्तव में कोई मिथ्या ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता, अपितु स्मृति तथा प्रत्यक्ष ज्ञान के मध्य विवेक (भेद) का अभाव ही भ्रम कहलाता है।

५.३ शब्द-बोध की प्रक्रिया में भेद : अन्विताभिधानवाद तथा अभिहितान्वयवाद

यह भेद वेद-वाक्यों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया से सम्बन्धित है, और इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध वेद-प्रामाण्य की व्याख्या से भी है। कुमारिल भट्ट "अभिहितान्वयवाद" के समर्थक हैं, जिसके अनुसार वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद पहले अपने-अपने पद-अर्थ का स्वतन्त्र बोध कराता है, तत्पश्चात् उन पद-अर्थों का परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) होकर वाक्यार्थ का बोध होता है।

इसके विपरीत प्रभाकर मिश्र "अन्विताभिधानवाद" के प्रवर्तक हैं, जिनके अनुसार पद स्वयं अन्वित अर्थात् अन्य पदों से सम्बद्ध अर्थ का ही बोध कराते हैं—पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ-बोध होकर पुनः अन्वय की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, अपितु पद सीधे ही वाक्यगत सम्बद्ध अर्थ को प्रकट करते हैं (शालिकनाथ मिश्र, ऋजुविमला)।

५.४ विधि की व्याख्या में भेद

प्रभाकर मिश्र विधि की व्याख्या "नियोग" के रूप में करते हैं, जिसका अर्थ है कर्तव्यता का बोध—अर्थात् विधि-वाक्य से मनुष्य को यह बोध होता है कि उसे अमुक कर्म करना ही चाहिए (एक प्रकार का कर्तव्य-बोध, आधुनिक नैतिक दर्शन के "categorical imperative" से कुछ साम्य रखने वाला)। इसके विपरीत कुमारिल भट्ट विधि को "भावना" के रूप में व्याख्यायित करते हैं, जिसके अनुसार विधि-वाक्य किसी इष्ट फल की प्राप्ति हेतु पुरुष को प्रवृत्त करने वाली प्रेरणा है, जो फल की इच्छा पर आधारित है (पार्थसारथि मिश्र, न्यायरत्नाकर)।

यह भेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह दर्शाता है कि प्राभाकर सम्प्रदाय धर्माचरण को एक स्वतःसिद्ध कर्तव्य के रूप में देखता है (फल की अपेक्षा के बिना भी), जबकि भाट्ट सम्प्रदाय धर्माचरण को फलेच्छा से प्रेरित मानता है। यह भेद आधुनिक नैतिक दर्शन की

शब्दसागर
अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक सहकर्मी-समीक्षित, रेफर्ड, ओपन एक्सेस शोध पत्रिका
ISSN: 2584-2889
वर्ष 2, अंक 2, जनवरी - मार्च 2025
Online Available: https://shabdasagar.in/

कर्तव्यवादी (deontological) तथा फलवादी (consequentialist) विचारधाराओं से तुलनीय प्रतीत होता है, यद्यपि यह तुलना केवल सांकेतिक रूप से ही ग्राह्य है।

६. वेद-प्रामाण्य पर आक्षेप, समाधान एवं तुलनात्मक विवेचन

६.१ अपौरुषेयतावाद पर आधुनिक आलोचना

आधुनिक विद्वानों ने मीमांसा के अपौरुषेयतावाद पर अनेक आपत्तियाँ उठायी हैं। सर्वप्रथम, यह तर्क दिया जाता है कि भाषाशास्त्रीय दृष्टि से वैदिक भाषा भी संस्कृत भाषा के ही एक प्राचीन रूप के रूप में विकसित हुई प्रतीत होती है, और भाषा का विकास मानव-समाज की ऐतिहासिक प्रक्रिया है, अतः किसी भाषा-समूह को अनादि-नित्य मानना आधुनिक भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से असंगत प्रतीत होता है। दूसरे, ऐतिहासिक शोध से यह भी प्रमाणित हुआ है कि विभिन्न वैदिक सूक्तों में अनेक ऋषियों के नाम उल्लिखित हैं (जैसे विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि), जिससे यह प्रतीत होता है कि इन सूक्तों की रचना उन्हीं ऋषियों द्वारा हुई होगी।

इन आपत्तियों के उत्तर में मीमांसक यह स्पष्ट करते हैं कि ऋषियों का नाम-सम्बन्ध केवल "मन्त्रद्रष्टृत्व" (मन्त्र का साक्षात्कार करना) के अर्थ में है, न कि "मन्त्रकर्तृत्व" (मन्त्र की रचना करना) के अर्थ में। अर्थात् ऋषि मन्त्रों के रचयिता नहीं, अपितु अनादि मन्त्रों के "द्रष्टा" अर्थात् साक्षात्कारकर्ता मात्र हैं, जिस प्रकार कोई वैज्ञानिक किसी अनादि प्राकृतिक नियम की "खोज" करता है, उसकी "रचना" नहीं करता (कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्तिक)।

६.२ स्वतःप्रामाण्यवाद की तार्किक समीक्षा

स्वत:प्रामाण्यवाद की भी आलोचना हुई है, विशेषतः न्याय दर्शन के परत:प्रामाण्यवाद के पक्षधरों द्वारा। नैयायिकों का मत है कि किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य उसकी सफल प्रवृत्ति (संवादी प्रवृत्ति) से ही सिद्ध होता है, अर्थात् प्रामाण्य भी परतः अर्थात् बाह्य कारणों से ही ज्ञात होता है, स्वतः नहीं। इस विवाद में मीमांसक यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि व्यावहारिक स्तर पर हम प्रायः प्रामाण्य के प्रति सशंकित रहते हैं और उसकी पुष्टि बाह्य साधनों से करते प्रतीत होते हैं, तथापि दार्शनिक विश्लेषण की दृष्टि से मूलतः ज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही उसका प्रामाण्य अन्तर्निहित होता है; शंका केवल तभी उत्पन्न होती है जब कोई बाधक कारण (जैसे विरोधी ज्ञान अथवा दोषयुक्त कारण की सम्भावना) उपस्थित हो जाए (डास्गुप्ता, १९२२)।

६.३ सांख्य-योग तथा वेदान्त से तुलना

सांख्य दर्शन भी वेद को प्रमाण मानता है, किन्तु सांख्य में वेद-प्रामाण्य पर उतना विस्तृत दार्शनिक विवेचन उपलब्ध नहीं जितना मीमांसा में है। वेदान्त दर्शन (विशेषतः अद्वैत वेदान्त) मीमांसा से अपौरुषेयतावाद तथा शब्द-नित्यत्व जैसे अनेक सिद्धान्त ग्रहण करता है, किन्तु वेदान्त की मुख्य रुचि उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड में है, जबकि मीमांसा की रुचि कर्मकाण्ड में। शंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में वेद-प्रामाण्य के मीमांसा-सिद्धान्तों का उपयोग तो करते हैं, किन्तु धर्म के स्थान पर ब्रह्म-ज्ञान को परम पुरुषार्थ मानते हैं, जिससे मीमांसा और वेदान्त के प्रयोजन में मौलिक भेद स्पष्ट होता है।

६.४ मीमांसा में ईश्वर की अनावश्यकता

एक अत्यन्त उल्लेखनीय विशेषता यह है कि मीमांसा दर्शन को धर्म तथा वेद-प्रामाण्य की स्थापना हेतु ईश्वर की अवधारणा की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। चूँकि वेद अपौरुषेय है, अतः इसके प्रामाण्य हेतु किसी सृष्टिकर्ता अथवा प्रणेता ईश्वर की परिकल्पना

शब्दसागर
अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक सहकर्मी-समीक्षित, रेफर्ड, ओपन एक्सेस शोध पत्रिका
ISSN: 2584-2889
वर्ष 2, अंक 2, जनवरी - मार्च 2025
Online Available: https://shabdasagar.in/

अनावश्यक हो जाती है। यही कारण है कि प्राचीन मीमांसा दर्शन को कुछ विद्वानों द्वारा "निरीश्वरवादी" अथवा कम-से-कम "ईश्वर के प्रति उदासीन" दर्शन के रूप में वर्णित किया गया है, यद्यपि परवर्ती काल में अनेक मीमांसकों ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसे वेद-प्रामाण्य के आधार से पृथक् रखा (काणे, १९६२)।

६.५ आधुनिक प्रासंगिकता

आधुनिक युग में, जब धर्मग्रन्थों की ऐतिहासिकता तथा प्रामाणिकता पर तार्किक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रश्न उठाए जाते हैं, मीमांसा दर्शन की ज्ञानमीमांसीय पद्धति (एपिस्टेमोलॉजिकल मेथड) आज भी अध्ययन योग्य है। मीमांसकों द्वारा विकसित प्रमाण-सिद्धान्त, विशेषतः शब्द-प्रमाण की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा, तथा वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया (अभिहितान्वय एवं अन्विताभिधान) का प्रभाव आधुनिक भाषा-दर्शन (Philosophy of Language) तथा व्याख्याशास्त्र (Hermeneutics) के अध्येताओं के लिए भी रुचिकर विषय रहा है।

७. मीमांसा के धर्म-सिद्धान्त की सामाजिक एवं व्यावहारिक भूमिका

७.१ धर्मशास्त्र पर मीमांसा का प्रभाव

मीमांसा दर्शन का प्रभाव केवल दार्शनिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहा, अपितु इसने भारतीय धर्मशास्त्र (विधिशास्त्र) की सम्पूर्ण परम्परा को गहनता से प्रभावित किया। स्मृतिकारों तथा धर्मशास्त्रियों ने विधि-निषेधों की व्याख्या तथा परस्पर विरोधी वचनों के समाधान हेतु मीमांसा के न्याय-सिद्धान्तों (जैसे बाध-अबाध विचार, अपवाद-सामान्य विचार आदि) का व्यापक उपयोग किया। इस प्रकार मीमांसा को "धर्मशास्त्र की व्याख्या-पद्धति" के रूप में भी देखा जाता है (काणे, १९६२)।

७.२ न्यायालयीन तथा विधिक व्याख्या में मीमांसा-न्याय

औपनिवेशिक काल में भी अनेक भारतीय न्यायविदों तथा न्यायाधीशों ने हिन्दू विधि से सम्बन्धित विवादों के निर्णय में मीमांसा के व्याख्या-सिद्धान्तों (मीमांसान्याय) का सन्दर्भ लिया, क्योंकि परम्परागत हिन्दू धर्मशास्त्र मीमांसा की पद्धति पर ही आधारित था। यह इस बात का प्रमाण है कि मीमांसा दर्शन केवल एक सैद्धान्तिक दर्शन न होकर एक व्यावहारिक व्याख्या-शास्त्र (Hermeneutic Science) के रूप में भी भारतीय बौद्धिक परम्परा में जीवित रहा।

७.३ यज्ञ-कर्मकाण्ड से परे धर्म की व्यापक अवधारणा

यद्यपि जैमिनि का प्रारम्भिक ध्यान यज्ञ-कर्मकाण्ड पर केन्द्रित था, किन्तु परवर्ती मीमांसकों ने धर्म की अवधारणा को क्रमशः विस्तृत करते हुए वर्णाश्रम-धर्म, आपद्धर्म तथा सामाजिक कर्तव्यों तक विस्तारित किया। इस प्रकार मीमांसा का "चोदनालक्षण धर्म" केवल यज्ञीय कर्मकाण्ड तक सीमित न रहकर सम्पूर्ण वैदिक-स्मार्त आचार-व्यवस्था का आधार बन गया।

८. उपसंहार (निष्कर्ष)

प्रस्तुत शोध-पत्र में हमने मीमांसा दर्शन के दो केन्द्रीय सिद्धान्तों—धर्म तथा वेद-प्रामाण्य—का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया। यह स्पष्ट होता है कि जैमिनि द्वारा प्रतिपादित "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" का सूत्र भारतीय दर्शन में धर्म की सर्वाधिक व्यवस्थित तथा तार्किक परिभाषाओं में से एक है, जो धर्म को केवल एक अमूर्त नैतिक अवधारणा न मानकर वेद-निर्दिष्ट कर्तव्य-कर्म के रूप में

शब्दसागर
अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक सहकर्मी-समीक्षित, रेफर्ड, ओपन एक्सेस शोध पत्रिका
ISSN: 2584-2889
वर्ष 2, अंक 2, जनवरी - मार्च 2025
Online Available: https://shabdasagar.in/

प्रतिष्ठित करता है। इसी प्रकार अपौरुषेयतावाद तथा स्वतःप्रामाण्यवाद के माध्यम से मीमांसकों ने वेद की प्रामाणिकता को एक सुदृढ़ ज्ञानमीमांसीय आधार प्रदान किया, जो बौद्ध तथा अन्य आस्तिक-नास्तिक दर्शनों के आक्षेपों का सामना करने में समर्थ सिद्ध हुआ।

कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर मिश्र के मध्य के सूक्ष्म मतभेदों ने मीमांसा दर्शन को आन्तरिक रूप से समृद्ध किया, तथा शब्द-बोध, ख्याति-सिद्धान्त एवं विधि की प्रकृति सम्बन्धी उनके विचार-विमर्श ने भारतीय ज्ञानमीमांसा (Epistemology) तथा भाषा-दर्शन को नवीन आयाम प्रदान किए। साथ ही, मीमांसा का यह विशिष्ट योगदान भी उल्लेखनीय है कि इसने धर्म एवं वेद-प्रामाण्य की स्थापना हेतु किसी व्यक्तित्व-ईश्वर की परिकल्पना को अनावश्यक बनाकर एक विशिष्ट, तर्कसंगत तथा आत्मनिर्भर दार्शनिक प्रणाली प्रस्तुत की।

यद्यपि आधुनिक भाषावैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अपौरुषेयतावाद पर अनेक प्रश्न उठाए जा सकते हैं, तथापि मीमांसा दर्शन की व्याख्या-पद्धति, प्रमाण-मीमांसा तथा न्याय-सिद्धान्त आज भी भारतीय बौद्धिक परम्परा के अध्ययन हेतु अपरिहार्य हैं। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि मीमांसा दर्शन का धर्म तथा वेद-प्रामाण्य सम्बन्धी चिन्तन न केवल प्राचीन भारतीय समाज के कर्मकाण्डीय जीवन को व्यवस्थित करने का साधन था, अपितु यह एक ऐसी सुसंगत ज्ञानमीमांसीय संरचना भी प्रस्तुत करता है, जिसका अध्ययन आज भी दर्शनशास्त्र, भाषाविज्ञान तथा विधिशास्त्र के अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।

संदर्भ सूची

- जैमिनि। (सन् निर्धारण अनुपलब्ध)। *मीमांसासूत्र*।
- शबरस्वामी। (सन् निर्धारण अनुपलब्ध)। *शाबरभाष्य* (मीमांसासूत्र पर भाष्य)।
- कुमारिल भट्ट। (सन् निर्धारण अनुपलब्ध)। *श्लोकवार्तिक*।
- कुमारिल भट्ट। (सन् निर्धारण अनुपलब्ध)। *तन्त्रवार्तिक*।
- प्रभाकर मिश्र। (सन् निर्धारण अनुपलब्ध)। *बृहती* (शाबरभाष्य पर टीका)।
- शालिकनाथ मिश्र। (सन् निर्धारण अनुपलब्ध)। *ऋजुविमला* (बृहती पर उपटीका)।
- पार्थसारथि मिश्र। (सन् निर्धारण अनुपलब्ध)। *शास्त्रदीपिका*।
- पार्थसारथि मिश्र। (सन् निर्धारण अनुपलब्ध)। *न्यायरत्नाकर*।
- माधवाचार्य। (सन् निर्धारण अनुपलब्ध)। *जैमिनीयन्यायमालाविस्तर*।
- आपदेव। (सन् निर्धारण अनुपलब्ध)। *मीमांसान्यायप्रकाश*।
- लौगाक्षि भास्कर। (सन् निर्धारण अनुपलब्ध)। *अर्थसंग्रह*।
- उपाध्याय, बलदेव। (१९९४)। *भारतीय दर्शन*। चौखम्बा विद्याभवन।
- झा, गंगानाथ। (१९४२)। *पूर्व-मीमांसा में ज्ञानमीमांसा* (अनूदित एवं व्याख्यायित)। कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रकाशन।
- काणे, पी. वी. (१९६२)। *धर्मशास्त्र का इतिहास* (खण्ड ५)। भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट।
- डास्गुप्ता, एस. एन. (१९२२)। *भारतीय दर्शन का इतिहास* (खण्ड १)। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस।